सामाजिक समस्याओं के समाधान में जैन धर्म का योगदान

डॉ० सागरमल जैन

यह सत्य है कि जैनधर्म मुख्यतया निवृत्ति प्रधान धर्म है, किन्तु इस आधार पर यह मान लेना कि उसमें सामाजिक समस्याओं के समाधान परिलक्षित नहीं होते हैं, एक भ्रान्त धारणा ही होगी। यद्यपि न केवल पाश्चात्य अपितु अनेक भारतीय विचारक भी इस बात का समर्थन करते हैं कि निवर्तक धर्म मूलतः व्यक्तिपरक है, समाज परक नहीं। जैन विद्या के मर्मज्ञ विद्वान् स्व० पं० सुखलालजी का कथन है कि 'प्रवर्तक धर्म समाजगामी और निवर्तक धर्म व्यक्तिगामी है। निवर्तक धर्म समस्त समाज के कर्त्तव्यों से बद्ध होने की बात नहीं मानता। उसके अनुसार व्यक्ति के लिए मुख्य कर्त्तव्य एक ही है, और वह है कि जिस तरह भी हो आत्म साक्षात्कार का प्रयत्न करे और उसमें रुकावट डालने वाली इच्छा का नाश करे।'[1] किन्तु मेरी अपनी दृष्टि में वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों ही मानवीय 'स्व' के अनिवार्य अंग हैं। पाश्चात्य विचारक ब्रैडले का कथन है कि 'मनुष्य नहीं है, यदि वह सामाजिक नहीं, किन्तु यदि वह मात्र सामाजिक ही है, तो वह पशु से अधिक नहीं है।'[2] मनुष्य की मनुष्यता वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों का अतिक्रमण करने में है। वस्तुतः मनुष्य एक ही साथ सामाजिक और वैयक्तिक दोनों ही है। क्योंकि मानव व्यक्तित्व में राग-द्वेष के तत्त्व अनिवार्य रूप से उपस्थित हैं, राग का तत्त्व उसमें सामाजिकता का विकास करता है तो द्वेष का तत्त्व उसमें वैयक्तिकता या स्वहितवादी दृष्टि का विकास करता है; जब राग का सीमाक्षेत्र संकुचित होता है और द्वेष का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है तो व्यक्ति को स्वार्थी कहा जाता है, उसमें वैयक्तिकता प्रमुख होती है, किन्तु जब राग का सीमा क्षेत्र विस्तृत होता है और द्वेष का क्षेत्र कम होता है तब व्यक्ति परोपकारी या सामाजिक कहा जाता है। किन्तु जब वह वीतराग और वीतद्वेष होता है तो वह अति-सामाजिक होता है किन्तु अपने और पराये भाव का यह अतिक्रमण असामाजिक नहीं है। वीतरागता की साधना में अनिवार्यरूप से 'स्व' की संकुचित सीमा को तोड़ना होता है अतः ऐसी साधना अनिवार्य रूप से असामाजिक तो नहीं हो सकती है। मनुष्य, जबतक मनुष्य है, वह वीतराग नहीं हुआ है स्वभावतः ही एक सामाजिक प्राणी है। पुनः कोई भी धर्म सामाजिक चेतना से विमुख होकर जीवित नहीं रह सकता। यह सत्य है कि निवर्तक धर्म वैयक्तिक साधना पर बल देते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें सामाजिक चेतना का अभाव है और सामाजिक जीवन की समस्याओं के समाधान के सम्बन्ध में उनमें कोई दिशा निर्देशक सिद्धान्त उपलब्ध नहीं होते हैं। यद्यपि यह माना जा सकता है कि निवर्तक धर्मों में सामाजिक समस्याओं के समाधान के सन्दर्भ में जो दृष्टिकोण उपलब्ध होता है वह विधायक न होकर निषेधात्मक है। किन्तु इससे उसकी मूल्यवत्ता में कोई अन्तर नहीं आता है। वस्तुतः मुख्यतः जैनधर्म और सामान्यतया सभी निवर्तक धर्मों की सामाजिक उपयोगिता (Social-utility) का सम्यक् मूल्यांकन करने के लिए हमें उस समग्र इतिहास को देखना होगा जिसमें भारतीय चिन्तन में सामाजिक चेतना का विकास हुआ है।

साथ ही हमें भारतीय चिन्तन में सामाजिक चेतना के विकास की क्रमिक प्रक्रिया को भी समझना होगा। तभी हम जैन और बौद्ध धर्म जैसे निवर्तक धर्मों का सामाजिक समस्याओं के समाधानपरक सन्दर्भ में क्या योगदान रहा, इसका सम्यक् मूल्यांकन कर सकेंगे। प्राचीनकाल में भारतीय चिन्तन में सामाजिक चेतना के विकास के तीन स्तर मिलते हैं—(१) वैदिक युग, (२) औपनिषदिक युग और (३) श्रमण युग।

सर्वप्रथम वैदिक युग में जनमानस में सामाजिक चेतना को जागृत करने का प्रयत्न किया गया। वदिक ऋषि सफल एवं सहयोगपूर्ण सामाजिक जीवन के लिए अभ्यर्थना करते हुए कहता था कि **संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्** (ऋग्वेद १०।१९१।२) "तुम

---

१. जैन धर्म का प्राण, पृ० ५६-५९

२. Ethical Studies, F. H. Bradely, पृ० २२३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिलकर चलो, मिलकर बोलो, तुम्हारे मन साथ-साथ विचार करें" अर्थात् तुम्हारे जीवन व्यवहार में सहयोग, तुम्हारी वाणी में समस्वरता और तुम्हारे विचारों में समानता हो। आगे पुनः वह कहता है :

समानो मन्त्रः समितिः समानी, समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः॥
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ (ऋग्वेद १०।१९१।३-४)

"आप सबके निर्णय समान हों, आप सबकी सभा भी सबके लिए समान हो, अर्थात् सबके प्रति समान व्यवहार करें। आपका मन भी समान हो और आपकी चित्त-वृत्ति भी समान हो, आपके संकल्प एक हों, आपके हृदय एक हों, आपका मन भी एक-रूप हो ताकि आप मिलजुल कर अच्छी तरह से कार्य कर सकें।" सम्भवतः सामाजिक जीवन एवं समाज-निष्ठा के परिप्रेक्ष्य में वैदिक युग के भारतीय चिन्तन के ये महत्त्वपूर्ण उद्‌गार हैं। वैदिक ऋषियों का **कृण्वंतो विश्वमार्यम्** के रूप में एक सुसभ्य एवं सुसंस्कृत मानव-समाज की रचना का मिशन तभी सफल हो सकता था जबकि वे जन-जन में समाज-निष्ठा के बीज का वपन करते। सहयोगपूर्ण जीवन-शैली उनका मूल मंतव्य था। प्रत्येक अवसर पर शांति-पाठ के माध्यम से वे जन-जन में समाजिक चेतना के विकास का प्रयास करते थे। वे अपने शांति-पाठ में कहते थे :

ऊँ सहनाववतु सह नो भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै,
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै। (तैत्तरीय आरण्यक ८।२)

"हम सब साथ-साथ रक्षित हों, साथ-साथ पोषित हों, साथ-साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम आपस में विद्वेष न करें।"

औपनिषदिक ऋषि **'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा'**, **'सर्व खल्विदं ब्रह्म'** तथा **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** के रूप में एकत्व की अनुभूति करने लगा। औपनिषदिकचिन्तन में वैयक्तिकता से ऊपर उठकर सामाजिक एकता के लिए अभेद-निष्ठा का सर्वोत्कृष्ट तात्विक आधार प्रस्तुत किया गया। भारतीय दर्शन में यह अभेद-निष्ठा ही सामाजिक एकत्व की चेतना एवं सामाजिक समता का आधार बनी है। ईशावास्योपनिषद् का ऋषि कहता था :

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्व-भूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

"जो सभी प्राणियों को अपने में और अपने को सभी प्राणियों में देखता है वह अपनी इस एकात्मा की अनुभूति के कारण किसी से घृणा नहीं करता है।" सामाजिक जीवन के विकास का आधार एकात्मता की अनुभूति है और जब एकात्मता की दृष्टि का विकास हो जाता है तो घृणा और विद्वेष के तत्त्व स्वतः समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार जहां एक ओर औपनिषदिक ऋषियों ने एकात्मता की चेतना को जाग्रत कर सामाजिक जीवन के विनाशक घृणा एवं विद्वेष के तत्त्वों को समाप्त करने का प्रयास किया, वहीं दूसरी ओर उन्होंने सम्पत्ति के वैयक्तिक अधिकार का निरसन कर ईश्वरीय सम्पदा अर्थात् सामूहिक सम्पदा का विचार भी प्रस्तुत किया। ईशावास्योपनिषद् के प्रारम्भ में ही ऋषि कहता है :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मागृध कस्यस्विद्धनम्॥ (ईशा० १।१)

अर्थात् इस जगत् में जो कुछ भी है वह सभी ईश्वरीय है, ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे वैयक्तिक कहा जा सके। इस प्रकार श्लोक के पूर्वार्द्ध में वैयक्तिक अधिकार का निरसन करके समष्टि को प्रधानता दी गई है। श्लोक के उत्तरार्द्ध में व्यक्ति के उपभोग एवं संग्रह के अधिकार को मर्यादित करते हुए कहा गया कि प्रकृति की जो भी उपलब्धियां हैं उनमें दूसरों (अर्थात् समाज के दूसरे सदस्यों) का भी भाग है। अतः उनके भाग को छोड़कर ही उनका उपयोग करो, संग्रह या लालच मत करो क्योंकि सम्पत्ति किसी एक की नहीं है। सम्भवतः सामाजिकता की चेतना के विकास के लिए इससे अधिक महत्त्वपूर्ण दूसरा कथन नहीं हो सकता था। गांधीजी ने इस श्लोक के सन्दर्भ में कहा था कि यदि भारतीय संस्कृति का सभी कुछ नष्ट हो जाये, किन्तु यह श्लोक भी बना रहे तो यह अकेला ही उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ है। **'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'** में समग्र सामाजिक चेतना केन्द्रित दिखाई देती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां वैदिक युग में सामाजिक चेतना के विकास के लिए सहयोग एवं सहजीवन का संकल्प उपस्थित किया गया वहां औपनिषदिक युग में सामाजिक चेतना को सुदृढ़ बनाने हेतु दार्शनिक आधार प्रस्तुत किये गये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसे बौद्धिक आधार प्रदान किया गया और एकत्व की अनुभूति को अधिक व्यापक बनाया गया। किन्तु सामाजिक जीवन एक ऐसा जीवन है, जो यथार्थ की भूमि पर खड़ा होता है। जब तक सामाजिक चेतना पुष्ट करने हेतु समानुभूति में बाधक बनने वाले तत्त्वों को तथा सामाजिक संरचना को विखण्डित करने वाले तत्त्वों को दूर नहीं किया जाता, तब तक एक सफल सामाजिक जीवन की कल्पना यथार्थ की धरती पर नहीं उतरती। अतः जैन एवं बौद्ध परंपराओं ने सामाजिक चेतना के विकास में जो योगदान दिया वह एक भिन्न प्रकार का था। उन्होंने सामाजिक संबंधों की शुद्धि का प्रयत्न किया तथा उन सब बातों को जो सामाजिक जीवन में बाधक थीं या जिनके कारण सामाजिक जीवन में कटुता और टकराहट उत्पन्न होती थी, उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया। चाहे उनके द्वारा प्रस्तुत आदेशों और उपदेशों की भाषा निषेधात्मक हो किंतु उन्होंने उन मूलभूत दोषों के परिमार्जन का प्रयत्न किया है जो सामाजिक जीवन को विषाक्त और कटुतापूर्ण बनाते थे। वस्तुतः उनका योगदान उस चिकित्सक के समान है जो बीमारी के मूलभूत कारणों का विश्लेषण कर उनके निराकरण के उपाय बताता है और इस प्रकार वे सामाजिक जीवन की बुराइयों का निराकरण कर एक स्वस्थ सामाजिक जीवन का आधार प्रस्तुत करते हैं।

क्या निवृत्ति सामाजिक विमुखता की सूचक है ?

वस्तुतः जैन धर्म अथवा बौद्ध धर्म को निवर्तक परम्परा का पोषक मानकर इस आधार पर यह मान लेना कि उनमें सामाजिक जीवन की समस्याओं के समाधान की उपेक्षा की गई है, सबसे बड़ी भ्रांति होगी। चाहे वे इतना अवश्य मानते हों कि वैयक्तिक साधना की दृष्टि से एकाकी जीवन लाभप्रद हो सकता है, किन्तु उनकी स्पष्ट धारणा है कि उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग सामाजिक कल्याण की दिशा में ही किया जाना चाहिए। बुद्ध और महावीर का जीवन स्वयं इस बात का प्रमाण है कि ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् उन्होंने संघ की स्थापना की और जीवन पर्यन्त लोक मंगल के लिए कार्य करते रहे। वस्तुतः महावीर की निवृत्ति, उनके द्वारा किये जाने वाले सामाजिक कल्याण में साधक ही बनी है, बाधक नहीं। वैयक्तिक जीवन में नैतिक स्तर का विकास लोकजीवन या सामुदायिक जीवन की प्राथमिकता है। महावीर सामाजिक कल्याण और सामाजिक सेवा की आवश्यकता तो मानते थे, किन्तु वे व्यक्ति-सुधार से समाज-सुधार की दिशा में आगे बढ़ना चाहते थे। व्यक्ति समाज की प्रथम इकाई है, वह सुधरेगा तो ही समाज सुधरेगा। व्यक्ति के नैतिक विकास के परिणामस्वरूप जो सामाजिक जीवन फलित होगा, वह सुव्यवस्था और शान्ति से युक्त होगा, उसमें संघर्ष और तनाव का अभाव होगा। जब तक व्यक्तिगत जीवन में निवृत्ति नहीं आती, तब तक सामाजिक जीवन की प्रवृत्ति विशुद्ध नहीं हो सकती। अपने व्यक्तिगत जीवन का शोधन करने के लिए राग-द्वेष के मनोविकारों और असत्कर्मी प्रवृत्ति से निवृत्ति आवश्यक है। जब व्यक्तिगत जीवन में निवृत्ति आयेगी, तो जीवन पवित्र और निर्मल होगा, अंतःकरण विशुद्ध होगा और तब जो भी सामाजिक प्रवृत्ति फलित होगी वह लोकहितार्थ और लोकमंगल के लिए होगी। जब तक व्यक्तिगत जीवन में संयम और निवृत्ति के तत्त्व न होंगे, तब तक सच्चा सामाजिक जीवन फलित ही नहीं होगा। जो व्यक्ति अपने स्वार्थों और अपनी वासनाओं का नियंत्रण नहीं कर सकता, वह कभी सामाजिक हो ही नहीं सकता। उपाध्याय अमर मुनि के शब्दों में जैन दर्शन की निवृत्ति का मर्म यही है कि व्यक्तिगत जीवन में निवृत्ति और सामाजिक जीवन में प्रवृत्ति। लोकसेवक या जनसेवक अपने व्यक्तिगत स्वार्थों से दूर रहे, यह जैन दर्शन की आचार संहिता का पहला पाठ है। अपने व्यक्तिगत जीवन में मर्यादाहीन भोग और आकांक्षाओं से निवृत्ति लेकर ही समाज कल्याण के लिए प्रवृत्त होना जैनदर्शन का पहला नीति धर्म है।[1] सामाजिक नैतिकता और व्यक्तिगत नैतिकता परस्पर विरोधी नहीं है। बिना व्यक्तिगत नैतिकता को उपलब्ध किये सामाजिक नैतिकता की दिशा में आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। चरित्रहीन व्यक्ति सामाजिक जीवन के लिए घातक ही होगा। अतः हम कह सकते हैं कि जैन दर्शन में निवृत्ति का जो स्वर मुखर हुआ है, वह समाजविरोधी नहीं है, वह सच्चे अर्थों में सामाजिक जीवन का साधक है। चरित्रवान व्यक्ति और व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठे हुए व्यक्ति ही किसी आदर्श समाज का निर्माण कर सकते हैं। वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति के निमित्त जो संगठन या समुदाय बनते हैं, वे सामाजिक जीवन के सच्चे प्रतिनिधि नहीं हैं, क्या चोर, डाकू और शोषकों का समाज, समाज कहलाने का अधिकारी है ? समाज जीवन की प्राथमिक आवश्यकता है। व्यक्ति अपने और पराये के भाव से तथा अपने व्यक्तिगत क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठे, चूंकि जैन दर्शन हमें इन्हीं तत्त्वों की शिक्षा देता है, अतः वह सच्चे अर्थों में सामाजिक है, असामाजिक नहीं है। जैन दर्शन का निवृत्तिपरक होना सामाजिक विमुखता का सूचक नहीं है। अशुभ से निवृत्ति ही शुभ में प्रवृत्ति का साधन बन सकती है। वैयक्तिक जीवन में निवृत्ति ही सामाजिक प्रवृत्ति का आधार है।

तीर्थंकर नमस्कार सूत्र (नमोत्थुणं) में तीर्थंकर के लिए लोकनाथ, लोकहितकर, लोकप्रदीप, अभय के दाता आदि विशेषणों का उपयोग हुआ है वे भी जैन दृष्टि की लोक मंगलकारी भावना को स्पष्ट करते हैं। तीर्थंकरों का प्रवचन एवं धर्म-प्रवर्तन प्राणियों के अनुग्रह के लिए होता है, न कि पूजा या सत्कार के लिए।[2] तीर्थंकर की मंगलमय वाक् धारा का प्रस्फुटन तो लोक की पीड़ा की अनुभूति में ही रहा

१. अमरभारती अप्रैल, १९६६, पृ० २
२. सूत्रकृतांग टीका, १/६/४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ है **समिच्च लोए खेयन्ने हिं पवेइए**[1] में यह सुस्पष्ट रूप से कहा गया है कि समस्त लोक की पीड़ा का अनुभव करके ही तीर्थंकर की जनकल्याणी वाणी प्रस्फुटित होती है। यदि ऐसा माना जाय कि जैन साधना केवल आत्महित, आत्म-कल्याण की बात कहती है तो फिर तीर्थंकर के द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन या संघ संचालन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता क्योंकि कैवल्य की उपलब्धि के बाद उन्हें अपने कल्याण के लिए कुछ करना शेष ही नहीं रहता है। अतः मानना पड़ेगा कि जैन साधना का आदर्श मात्र आत्मकल्याण ही नहीं, वरन् लोककल्याण भी है।

जैन दार्शनिकों ने आत्महित की अपेक्षा लोकहित की श्रेष्ठता को सदैव ही महत्त्व दिया है। जैन विचारणा के अनुसार साधना की सर्वोच्च ऊंचाई पर स्थित सभी जीवनमुक्त आध्यात्मिक पूर्णता की दृष्टि से, यद्यपि समान ही होते हैं, फिर भी जैन विचारकों ने उनकी आत्म-हितकारिणी और लोकहितकारिणी दृष्टि के तारतम्य को लक्ष्य में रखकर उनमें उच्चावच्च अवस्था को स्वीकार किया है। एक सामान्य केवली (जीवनमुक्त) और तीर्थंकर में आध्यात्मिक पूर्णताएं तो समान ही होती हैं, फिर भी तीर्थंकर को लोकहित की दृष्टि के कारण सामान्य केवली की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। जीवनमुक्तावस्था को प्राप्त कर लेनेवाले व्यक्तियों के, उनकी लोकोपकारिता के आधार पर तीन वर्ग होते हैं—१. तीर्थंकर, २. गणधर और ३. सामान्य केवली।

साधारणरूप में क्रमशः विश्वकल्याण, वर्ग-कल्याण और वैयक्तिक कल्याण की भावनाओं को लेकर तदनुकूल प्रवृत्ति करने के कारण ही साधकों की ये विभिन्न कक्षाएं निर्धारित की गई हैं, जिनमें विश्वकल्याण के लिए प्रवृत्ति करने के कारण ही तीर्थंकर को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है।[2] जिस प्रकार बौद्ध विचारणा में बोधिसत्व और अर्हत के आदर्शों में भिन्नता है, उसी प्रकार जैन साधना में तीर्थंकर और सामान्य केवली के आदर्शों में तारतम्य है।

इन सबके अतिरिक्त जैन साधना में संघ (समाज) को सर्वोपरि माना गया है। संघहित समस्त वैयक्तिक साधनाओं से भी ऊपर है, विशेष परिस्थितियों में तो संघ के कल्याण के लिए वैयक्तिक साधना का परित्याग करना भी आवश्यक माना गया है। जैन साहित्य में आचार्य भद्रबाहु एवं कालक की कथाएं इसका उदाहरण हैं।

स्थानांग सूत्र में जिन दस धर्मों का निर्देश दिया गया है, उनमें संघ धर्म, गणधर्म, राष्ट्रधर्म, नगर धर्म, ग्रामधर्म और कुलधर्म की उपस्थिति इस बात का सबल प्रमाण है कि जैन दृष्टि न केवल आत्महित या वैयक्तिक विकास तक सीमित है, वरन् उसमें लोकहित या लोक-कल्याण का अजस्र प्रवाह भी प्रवाहित हो रहा है।[3]

यद्यपि जैन दर्शन लोकहित, लोकमंगल की बात कहता है, लेकिन उसकी एक शर्त है कि परार्थ के लिए स्वार्थ का विसर्जन किया जा सकता है, लेकिन आत्मार्थ का नहीं। उसके अनुसार वैयक्तिक भौतिक उपलब्धियों को लोक कल्याण के लिए समर्पित किया जा सकता है और किया भी जाना चाहिए क्योंकि वे हमें जगत् से ही मिली हैं, वे वस्तुतः संसार की हैं, हमारी नहीं; सांसारिक उपलब्धियां संसार के लिए हैं, अतः उनका लोकहित के लिए विसर्जन किया जाना चाहिए। लेकिन उसे यह स्वीकार नहीं है कि आध्यात्मिक विकास या वैयक्तिक नैतिकता को लोकहित के नाम पर कुंठित किया जावे। ऐसा लोकहित, जो व्यक्ति के चरित्र पतन अथवा आध्यात्मिक कुंठन से फलित होता हो, उसे स्वीकार नहीं है, लोकहित और आत्महित के संदर्भ में उसका स्वर्णिम सूत्र है आत्महित करो और यथाशक्य लोकहित भी करो, लेकिन जहां आत्महित और लोकहित में द्वन्द्व हो और आत्महित के कुंठन पर ही लोकहित फलित होता हो तो वहां आत्मकल्याण ही श्रेष्ठ है।

आत्महित स्वार्थ नहीं है—यहां हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जैन धर्म का यह आत्महित स्वार्थवाद नहीं है। आत्म-काम वस्तुतः निष्काम होता है, क्योंकि उसकी कोई कामना नहीं है अतः उसका स्वार्थ भी नहीं होता। आत्मार्थी कोई भौतिक उपलब्धि नही चाहता है। वह तो उनका विसर्जन करता है। स्वार्थी तो वह है जो यह चाहता है कि सभी लोग उसकी भौतिक उपलब्धियों के लिए कार्य करें। स्वार्थ और आत्मकल्याण में मौलिक अन्तर यह है कि स्वार्थ की साधना में राग और रागद्वेष की वृत्तियां काम करती हैं जबकि आत्मकल्याण का प्रारंभ ही राग-द्वेष की वृत्तियों को क्षीण करने से होता है। यथार्थ आत्महित में राग-द्वेष का अभाव है। स्वार्थ और परार्थ में संघर्ष की सम्भावना भी तभी तक है जबकि उनमें राग-द्वेष वृत्ति निहित हो। रागादि भाव या स्वहित की वृत्ति से किया जानेवाला परार्थ भी सच्चा लोकहित नहीं है, वह तो स्वार्थ ही है। जिस प्रकार शासन के द्वारा नियुक्त एवं प्रेरित समाज-कल्याण अधिकारी वस्तुतः लोकहित का कर्त्ता नहीं है, वह तो वेतन के लिए लोकहित करता है। उसी प्रकार राग से प्रेरित होकर लोकहित करने वाला भी सच्चे अर्थों में लोकहित का कर्त्ता नहीं है, उसके लोकहित के प्रयत्न राग की अभिव्यक्ति, प्रतिष्ठा की रक्षा, यश अर्जन की भावना या भावी लाभ की प्राप्ति के हेतु ही होते हैं। ऐसा परार्थ वस्तुतः स्वार्थ ही है। सच्चा आत्महित और सच्चा लोकहित, राग-द्वेष से शून्य अनासक्ति की भूमि पर प्रस्फुटित होता है लेकिन उस अवस्था में न तो अपना रहता है न पराया क्योंकि जहां राग है वहीं 'मेरा' है और जहां मेरा है वहीं पराया है। राग की शून्यता

१. आचारांग, १/४/१
२. देखिये—योगबिन्दु, २८५-२८८
३. स्थानांग, १०/७६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने पर अपने और पराये का विभेद ही समाप्त हो जाता है। ऐसी राग शून्यता की भूमि पर स्थित होकर किया जानेवाला आत्महित भी लोकहित होता है और लोकहित आत्महित होता है। दोनों में कोई संघर्ष नहीं है, कोई द्वैत नहीं है। उस दशा में तो सर्वत्र आत्म-दृष्टि होती है जिसमें न कोई अपना है, न कोई पराया है। स्वार्थ-परार्थ की जैसी समस्या यहां रहती ही नहीं।

जैन विचारणा के अनुसार स्वार्थ और परार्थ के मध्य सभी अवस्थाओं में संघर्ष रहे, यह आवश्यक नहीं। व्यक्ति जैसे-जैसे भौतिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन की ओर ऊपर उठ जाता है, वैसे-वैसे स्वार्थ परार्थ का संघर्ष भी समाप्त हो जाता है। जैन विचारकों ने परार्थ या लोकहित के तीन स्तर माने हैं।

१. द्रव्य लोकहित, २. भाव लोकहित और ३. पारमार्थिक लोकहित

१. **द्रव्य लोकहित**—यह लोकहित का भौतिक स्तर है। भौतिक उपादानों जैसे भोजन, वस्त्र, आवास आदि तथा शारीरिक सेवा के द्वारा लोकहित सेवा करना द्रव्य लोकहित है। यह दान और सेवा का क्षेत्र है। पुण्य के नव प्रकारों में आहार दान, वस्त्रदान, औषधि-दान आदि का उल्लेख यह बताता हैं कि जैन दर्शन दान और सेवा के आदर्श को स्वीकार करता है। जैन समाज के द्वारा आज भी जन-सेवा और प्राणी-सेवा के जो अनेक कार्य किये जा रहे हैं, वे इसके प्रतीक हैं। फिर भी यह एक ऐसा स्तर है जहां हितों का संघर्ष होता है। एक का हित दूसरे के अहित का कारण बन जाता है। अतः द्रव्य लोकहित एकान्त रूप से आचरणीय भी नहीं कहा जा सकता। यह सापेक्ष नैतिकता का क्षेत्र है। भौतिक स्तर पर स्वहित की पूर्णतया उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। यहां तो स्वहित और परिहित में उचित समन्वय बनाना, यही अपेक्षित है।

२. **भाव लोकहित**—लोकहित का यह भौतिक स्तर ऊपर स्थिर है, जहां पर लोकहित के जो साधन हैं वे ज्ञानात्मक या चैत्तनिक होते हैं। इस स्तर पर परार्थ और स्वार्थ में संघर्ष की सम्भावना अल्पतम होती है। मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ की भावनाएं इस स्तर को अभिव्यक्त करती हैं।

३. **पारमार्थिक लोकहित**—यह लोकहित का सर्वोच्च स्तर है, जहां स्वहित और परहित में कोई संघर्ष नहीं रहता, कोई द्वैत नहीं रहता। यहां पर लोकहित का रूप होता है—यथार्थ जीवन दृष्टि के सम्बन्ध में मार्गदर्शन।

विषमता समस्या और समता समाधान :

जैनागम साहित्य में उपलब्ध निर्देश न केवल अपने युग की सामाजिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं अपितु वर्त्तमान युग की सामाजिक समस्याओं के समाधान में वे पूर्णतया सक्षम हैं। वस्तुस्थिति यह है कि चाहे प्राचीन युग हो या वर्तमान युग, मानव समाज की समस्याएं सभी युगों में लगभग समान रही और उनका समाधान भी समान रहा है। वस्तुतः विषमता ही समस्या है और समता ही समाधान है। मानव समाज की सभी समस्याएं विषमता जनित हैं। विषमताओं का निराकरण समता के द्वारा ही संभव है। इसीलिए जैन आगम आचारांग धर्म की व्याख्या करते हुए कहता है कि **समियाये धम्मे आरिये हि पवेइए** (१/८/३)। अर्थात् आर्यजन समता को ही धर्म कहते हैं। समता ही धर्म है और विषमता अधर्म है। क्योंकि वह सामाजिक सन्तुलन को भंग करती है। विषमता चाहे वह सामाजिक जीवन में हो या वैयक्तिक जीवन में, वह व्यक्ति और समाज दोनों के लिए दुःख और पीड़ा का कारण बनती है।

समाज जीवन के बाधक तत्त्व राग-द्वेष—यद्यपि यहां यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि इस विषमता का मूल क्या है, जैनागम उत्तराध्ययन में विषमता का मूल राग और द्वेष के तत्त्वों को माना गया है। राग और द्वेष की प्रवृत्तियां ही सामाजिक विषमता और सामाजिक संघर्षों का कारण बनती है। सामाजिक सम्बन्धों की विषमता के मूल में व्यक्ति की राग और द्वेष की भावनायें ही काम करती हैं।

सामान्यतया राग द्वेष का सहगामी होता है। जब तक सम्बन्ध राग-द्वेष के आधार पर खड़े होते हैं, तब तक इन सम्बन्धों में विषमता स्वाभाविक रूप से उपस्थित रहती है। जब राग का तत्त्व द्वेष का सहगामी होकर काम करने लगता है तो पारस्परिक सम्बन्धों में संघर्ष और टकराहट प्रारम्भ हो जाती है। राग के कारण 'मेरा' या ममत्व का भाव उत्पन्न होता है। मेरे सम्बन्धी, मेरी जाति, मेरा धर्म, मेरा राष्ट्र ये विचार विकसित होते हैं। परिणामस्वरूप भाई-भतीजावाद, जातिवाद, साम्प्रदायिकता और राष्ट्रवाद का जन्म होता है। आज के हमारे सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों में ये ही तत्त्व सबसे अधिक बाधक हैं। ये मनुष्य को पारिवारिक, जातीय, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय क्षुद्र स्वार्थों से हमें ऊपर उठने नहीं देते हैं। यही आज की सामाजिक विषमता के मूल कारण हैं।

सामाजिक संघर्षों का मूल 'स्व' की संकुचित सीमा है। व्यक्ति जिसे अपना मानता है, उसके हित की कामना करता है और जिसे पराया मानता है उसके हित की उपेक्षा करता है। सामाजिक जीवन में शोषण, क्रूर व्यवहार, घृणा आदि सभी उन्हीं के प्रति किए जाते हैं, जिन्हें हम अपना नहीं मानते हैं। हमें अपनी रागात्मकता या ममत्व वृत्ति का पूर्णतया विसर्जन किये बिना अपेक्षित नैतिक एवं सामाजिक

---

१. अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ५, पृ० ६६७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन का विकास नहीं हो सकता। व्यक्ति का 'स्व' चाहे वह व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन या राष्ट्र की सीमा तक विस्तृत हो, हमें स्वार्थ भावना से ऊपर नहीं उठने देता। स्वार्थ वृत्ति चाहे वह परिवार के प्रति हो या राष्ट्र के प्रति, समान रूप से नैतिकता एवं सामाजिकता की विरोधी ही सिद्ध होती है। उसके होते हुए सच्चा नैतिक एवं सामाजिक जीवन फलित नहीं हो सकता। मुनि नथमलजी लिखते हैं कि "परिवार के प्रति ममत्व का सघन रूप जैसे जाति या राष्ट्र के प्रति बरती जाने वाली अनैतिकता का नियमन नहीं करता वैसे ही जाति या राष्ट्र के प्रति ममत्व अन्तर्राष्ट्रीय अनैतिकता का नियामक नहीं होता। मुझे लगता है कि राष्ट्रीय अनैतिकता की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय अनैतिकता कहीं अधिक है। जिन राष्ट्रों में व्यावहारिक सच्चाई है, प्रामाणिकता है, वे भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सत्य-निष्ठ और प्रामाणिक नहीं है।"[१] इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति का जीवन जब तक राग या ममत्व से ऊपर नहीं उठता, तब तक सामाजिक सद्भाव और सामाजिक संघर्षों का निराकरण सम्भव ही नहीं होता। रागयुक्त नैतिकता चाहे उसका आधार राष्ट्र ही क्यों न हों, सच्चे अर्थों में नैतिकता नहीं हो सकती। सच्चा सामाजिक जीवन वीतराग अवस्था में ही सम्भव हो सकता है और जैन दर्शन इसी वीतराग जीवन दृष्टि को ही अपनी साधना का आधार बनाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह सामाजिक जीवन के लिए एक वास्तविक आधार प्रस्तुत करता है। यही एक ऐसा आधार है जिस पर सामाजिक नैतिकता को खड़ा किया जा सकता है और सामाजिक जीवन वैषम्यों को समाप्त किया जा सकता है। सरागता कभी भी सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण नहीं कर सकती है। रागात्मकता के आधार पर खड़ा सामाजिक जीवन अस्थायी ही होगा। इस प्रकार जैन दर्शन ने वीतरागता को जीवन का आदर्श स्वीकार करके वस्तुतः एक सुदृढ़ सामाजिक जीवन के लिए एक स्थायी आधार प्रस्तुत किया है।

संभवतः यहां यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि राग के अभाव में सामाजिक सम्बन्धों को जोड़ने वाला तत्त्व क्या होगा? राग के अभाव में तो सारे सामाजिक सम्बन्ध चरमरा कर टूट जाएंगे। रागात्मकता ही तो हमें एक दूसरे से जोड़ती है अतः राग सामाजिक जीवन का एक आवश्यक तत्त्व है। किन्तु मेरी अपनी विनम्र धारणा में जो तत्त्व व्यक्ति को व्यक्ति से या समाज से जोड़ता है वह राग नहीं है। तत्त्वार्थ सूत्र में इस बात की चर्चा उपस्थित की गई है कि विभिन्न द्रव्य एक दूसरे का सहयोग किस प्रकार करते हैं। उनमें जहां पुद्गल द्रव्यों को जीव द्रव्य का उपकारक कहा गया है वहीं जीव को मात्र दूसरे जीवों का उपकारक कहा गया है। **परस्परोपग्रहो जीवानाम्** तत्त्वार्थ सूत्र ५/२१ चेतनासत्ता यदि किसी का उपकार या हित कर सकती है तो वह चेतन सत्ता का ही कर सकती है। इस प्रकार पारस्परिक हित साधन यह प्राणीय स्वभाव है और यह पारस्परिक हितसाधन की स्वाभाविक वृत्ति ही मनुष्य की सामाजिकता का आधार है। इस स्वाभाविक वृत्ति के विकास के दो आधार हैं एक रागात्मकता और दूसरा विवेक। रागात्मकता हमें कहीं जोड़ती है तो कहीं से तोड़ती भी है। इस प्रकार रागात्मकता के आधार पर जब हम किसी को अपना मानते हैं तो उसके विरोधी के प्रति 'पर' का भाव भी आ जाता है, राग द्वेष के साथ ही जीता है वे ऐसे जुड़वा शिशु हैं एक साथ उत्पन्न होते हैं, एक साथ जीते हैं और एक साथ मरते भी हैं। जहां राग जोड़ता है तो द्वेष तोड़ता है। राग के आधार पर जो भी समाज खड़ा होगा तो अनिवार्य रूप से वर्गभेद और वर्णभेद रहेगा ही। सच्ची सामाजिक चेतना का आधार राग नहीं विवेक होगा। विवेक के आधार पर दायित्वबोध एवं कर्तव्यबोध की चेतना जागृत होगी। राग की भाषा अधिकार की भाषा है जबकि विवेक की भाषा कर्त्तव्य की भाषा है। जहां केवल अधिकारों की बात होती है वहां केवल विकृत सामाजिकता होती है। स्वस्थ सामाजिकता अधिकार का नहीं, कर्त्तव्य का बोध कराती है और ऐसी सामाजिकता का आधार "विवेक" होता है, कर्त्तव्य बोध होता है। जैन धर्म ऐसी ही सामाजिक चेतना को निर्मित करना चाहता है। जब विवेक हमारी सामाजिक चेतना का आधार बनता है तो मेरे और पराये की चेतना समाप्त हो जाती है। सभी आत्मवत होते है। जैन धर्म ने अहिंसा को अपने धर्म का आधार माना है उसका आधार यही आत्मवत् दृष्टि है।

दूसरे इस सामाजिक सम्बन्ध में व्यक्ति का अहंकार भी बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। शासन की इच्छा या आधिपत्य की भावना इसके प्रमुख तत्त्व हैं, इनके कारण भी सामाजिक जीवन में विषमता उत्पन्न होती है। शासक और शासित अथवा जातिभेद एवं रंगभेद आदि की श्रेष्ठता के मूल में यही कारण है। वर्तमान ढंग में बड़े राष्ट्रों में जो अपने प्रभावक क्षेत्र बनाने की प्रवृत्ति है, उसके मूल में भी अपने राष्ट्रीय अहं की पुष्टि का प्रयत्न है। स्वतन्त्रता के अपहार का प्रश्न इसी स्थिति में होता है। जब व्यक्ति में आधिपत्य की वृत्ति या शासन की भावना होती है तो वह दूसरे के अधिकारों का हनन करता है। जैन दर्शन अहंकार (मान) प्रत्यय के विगलन के द्वारा सामाजिक जीवन में परतंत्रता को समाप्त करता है। दूसरी ओर जैन दर्शन का अहिंसा सिद्धान्त भी सभी प्राणियों के समान अधिकारों को स्वीकार करता है। अधिकारों का हनन एक प्रकार की हिंसा है। अतः अहिंसा का सिद्धान्त स्वतंत्रता के साथ जुड़ा हुआ है। जैन एवं बौद्ध दर्शन जहां एक ओर अहिंसा के सिद्धांत के आधार पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थन करते हैं, वहीं दूसरी ओर प्राणीय समता के आधार पर वर्णभेद, जातिभेद एवं ऊंच-नीच की भावना को समाप्त करते हैं।

---

१. नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृ० ३-४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामाजिक जीवन में विषमता से उत्पन्न होने के चार मूलभूत कारण होते हैं—(१)संग्रह (लोभ) (२)आवेश (क्रोध) (३) गर्व (बड़ा मानना) और (४) माया (छिपाना)। जिन्हें जैन धर्म में चार कषाय कहा जाता है, यही चारों अलग-अलग रूप में सामाजिक जीवन में विषमता, संघर्ष एवं अशान्ति के कारण बनते हैं। (१) संग्रह की मनोवृत्ति के कारण शोषण, अप्रामाणिकता, स्वार्थपूर्ण व्यवहार, क्रूर-व्यवहार, विश्वासघात आदि विकसित होते हैं। (२) आवेश की मनोवृत्ति के कारण संघर्ष, युद्ध आक्रमण एवं हत्याएं आदि होते हैं। (३)गर्व की मनोवृत्ति के कारण घृणा, और क्रूर व्यवहार होता है। इसी प्रकार माया की मनोवृत्ति के कारण अविश्वास उत्पन्न होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन में जिन्हें चार कषाय कहा जाता है, उन्हीं के कारण सारा सामाजिक जीवन दूषित होता है। जैन दर्शन इन्हीं कषायों के निरोध को अपनी नैतिक साधना का आधार बनाता है। अतः यह कहना उचित होगा कि जैन दर्शन अपने साधना मार्ग के रूप में सामाजिक विषमताओं को समाप्त कर, सामाजिक समत्व की स्थापना का प्रयत्न करता है।[1] यदि हम जैन धर्म में स्वीकृत पांच महाव्रतों को देखें तो स्पष्ट रूपों से उनका पूरा सन्दर्भ सामाजिक जीवन है। हिंसा, मृषावचन, चोरी, व्यभिचार एवं संग्रहवृत्ति सामाजिक जीवन की बुराइयां हैं। इनसे बचने के लिए पांच महाव्रतों के रूप में जिन नैतिक सद्गुणों की स्थापना की गई वे पूर्णतः सामाजिक जीवन से सम्बन्धित हैं। प्रश्नव्याकरण सूत्र स्पष्ट रूप से कहता है कि पांचों महाव्रत सर्व प्रकार से लोकहित के लिए ही है (२।६।२२)।

जैन धर्म में समाज के आर्थिक वैषम्य के निराकरण का सूत्र—आर्थिक वैषम्य व्यक्ति और भौतिक जगत् के सम्बन्धों से उत्पन्न हुई विषमता है। चेतना का जब भौतिक जगत् से सम्बन्ध होता है तो उसे अनेक वस्तुएं अपने प्राणमय जीवन के लिए आवश्यक प्रतीत होती हैं। यही आवश्यकता जब आसक्ति में बदल जाती है तो एक ओर संग्रह होता जाता है, दूसरी ओर संग्रह की लालसा बढ़ती जाती है, इसी से सामाजिक जीवन में आर्थिक विषमता के बीज का वपन होता है। जैसे जैसे एक ओर संग्रह बढ़ता है, दूसरी ओर गरीबी बढ़ती है और परिणाम स्वरूप आर्थिक वैषम्य बढ़ता जाता है। आर्थिक वैषम्य के मूल में संग्रह भावना ही अधिक है। उपाध्याय अमरमुनि जी लिखते हैं कि "गरीबी स्वयं में कोई समस्या नहीं, किन्तु पहाड़ों की असीम ऊंचाइयों ने इस धरती पर जगह-जगह गड्ढे पैदा कर दिये हैं। पहाड़ टूटेंगे तो गड्ढे अपने आप भर जायेंगे सम्पत्ति का विसर्जन होगा, तो गरीबी अपने आप दूर हट जाएगी।"[2] वस्तुतः आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति में परिग्रह के विसर्जन की भावना उद्भूत हो। परिग्रह के विसर्जन से ही आर्थिक वैषम्य समाप्त किया जा सकता है। जब तक संग्रह की वृत्ति समाप्त नहीं होती, आर्थिक समता नहीं आ सकती।

आर्थिक वैषम्य का निराकरण असंग्रह की वृत्ति से ही सम्भव है और जैन दर्शन अपने अपरिग्रह के सिद्धान्त के द्वारा इस आर्थिक वषम्य के निराकरण का प्रयास करता है। जैन धर्म में गृहस्थ जीवन के लिए परिग्रह एवं उपभोग-परिभोग के सीमांकन का विधान किया गया है, जो आर्थिक वैषम्य के निराकरण का एक प्रमुख साधन हो सकता है। आज हम जिस समाजवाद एवं साम्यवाद की चर्चा करते हैं, उसका दिशा-संकेत महावीर ने अपने व्रत-विधान में किया था। जैन दर्शन सम्पदा के उत्पादन पर नहीं अपितु उसके अपरिमित संग्रह और उपभोग पर नियन्त्रण लगाता है।

आर्थिक वैषम्य का निराकरण अनाशक्ति और अपरिग्रह की साधना के द्वारा ही सम्भव है। यदि हम सामाजिक जीवन में आर्थिक समानता की बात करना चाहते हैं तो हमें व्यक्तिगत उपभोग एवं सम्पत्ति की सीमा का निर्धारण करना ही होगा। अपरिग्रह का विसर्जन ही आर्थिक जीवन में समत्व का सृजन कर सकता है। जैन दर्शन का परिग्रह सिद्धान्त इस सम्बन्ध में पर्याप्त सिद्ध होता है। वर्तमान युग में मार्क्स ने आर्थिक वैषम्य को दूर करने का जो सिद्धान्त साम्यवादी समाज के रचना के रूप में प्रस्तुत किया, वह यद्यपि आर्थिक विषमताओं के निराकरण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है, लेकिन उसकी मूलभूत कमी यही है कि वह मानव समाज पर ऊपर से थोपा जाता है, उसके अन्तर से सहज उभारा नहीं जाता है। जिस प्रकार बाह्य दबाओं से वास्तविक नैतिकता प्रकट नहीं होती, उसी प्रकार केवल कानून के बल पर लाया गया आर्थिक साम्य सच्चे आर्थिक समत्व का प्रकटन नहीं करता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य में स्वतः ही त्याग की वृत्ति का उदय हो और वह स्वेच्छा से ही सम्पत्ति के विसर्जनकी दिशा में आगे आवे। भारतीय परम्परा और विशेषकर जैन परम्परा न केवल सम्पत्ति के विसर्जन की बात करती है वरन् उसके समवितरण पर भी जोर देती है। हमारे प्राचीन साहित्य में दान के स्थान पर संविभाग शब्द का ही अधिक प्रयोग हुआ है। जो यह बताता है कि जो कुछ हमारे पास है, उसका समविभाजन करना है। महावीर का उद्घोष कि "असंविभागी णाहु तस्स मोक्खो" स्पष्ट बताता है कि जैन दर्शन आर्थिक विषमता के निराकरण के लिए समवितरण की धारणा को प्रतिपादित करता है। जैन दर्शन के इन सिद्धान्तों को यदि उन्हीं युगीन सन्दर्भों में नवीन दृष्टि से उपस्थित किया जाय तो समाज की आर्थिक समस्याओं का निराकरण खोजा जा सकता है।

वर्तमान युग में भ्रष्टाचार के रूप में समाज के आर्थिक क्षेत्र में जो बुराई पनप रही है, उसके मूल में भी या तो व्यक्ति की

---

१. नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृ० २

२. जैन प्रकाश, ८ अप्रैल १९६९, पृ० १

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संग्रहेच्छा है या भोगेच्छा। भ्रष्टाचार केवल अभावजनित बीमारी नहीं है, वरन् वह एक मानसिक बीमारी है जिसके मूल में संग्रहेच्छा एवं भोगेच्छा के कीटाणु रहे हुए हैं। वस्तुतः वह आवश्यकताओं के कारण नहीं वरन् तृष्णा के कारण उत्पन्न होती है। आवश्यकताओं का निराकरण पदार्थों को उपलब्ध करके किया जा सकता है लेकिन इस तृष्णा का निराकरण पदार्थों के द्वारा संभव नहीं है। तृष्णाजनित विकृतियां केवल अनासक्ति द्वारा ही दूर की जा सकती हैं। हमारे वर्त्तमान युग की प्रमुख कठिनाई यह है कि हमें सामान्य जीवन जीने के साधन उपलब्ध नहीं अथवा उनका अभाव है, वरन् कठिनाई यह कि आज का मानव तृष्णा से इतना अधिक ग्रसित है कि वह एक अच्छा सुखद एवं शान्तिपूर्ण जीवन नहीं जी सकता। किसी सीमा तक हम यह भी मान लें कि अभाव के कारण आर्थिक-भ्रष्टाचार का जन्म होता है तो जहां तक कृत्रिम अभाव का प्रश्न है वह कुछ व्यक्तियों के द्वारा किये गये अवैध संग्रह का परिणाम है। किन्तु जैन नीति दर्शन ने गृहस्थ साधक के अनर्थदण्ड विरमण व्रत में उपभोग के पदार्थों के अनावश्यक संग्रह को निषिद्ध ठहराया है। दूसरे यदि अभाव वास्तविक भी हो तो उपभोग का नियन्त्रण करके दूर किया जा सकता है। जिसके लिए उपभोग-परिभोग मर्यादा नामक व्रत का विधान है। इस प्रकार जैन दर्शन परिग्रह और उपभोग के परिसीमन के द्वारा समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता की समाप्ति का सूत्र प्रस्तुत करता है।

जैन धर्म हमारे सामाजिक जीवन से सम्बन्धित है। जैन आचार दर्शन उपर्युक्त तीनों विषमताओं के निराकरण के लिए अपने आचार दर्शन में तीन सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। सामाजिक वैषम्य के निराकरण के लिये उसने अहिंसा एवं सामाजिक समता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। आर्थिक वैषम्य के निराकरण के लिए वह परिग्रह एवं उपभोग के परिसीमन का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार बौद्धिक एवं वैचारिक संघर्षों के निराकरण के लिए अनाग्रह और अनेकान्त सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। ये सिद्धान्त क्रमशः सामाजिक समता आर्थिक समता और वैचारिक समता की स्थापना करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शन सामाजिक जीवन से विषमताओं के निराकरण और समत्व के सृजन के लिए एक ऐसी आचार विधि प्रस्तुत करता है जिसके सम्यक् परिपालन से सामाजिक जीवन में सच्ची शान्ति और वास्तविक सुख का लाभ प्राप्त किया जा सकता है। उसने सामाजिक जीवन से सम्बन्धों के शुद्धिकरण पर अधिक बल दिया है। यही कारण है कि उसके द्वारा प्रस्तुत सामाजिक आदेश अपनी प्रकृति में निषेधात्मक अधिक प्रतीत होते हैं यद्यपि विधायक सामाजिक आदेशों का उसमें पूर्ण अभाव नहीं है। उसके कुछ प्रमुख सामाजिक आदेश निम्न हैं—

निष्ठा सूत्र :

१. सभी आत्मायें स्वरूपतः समान हैं, अतः सामाजिक जीवन में ऊंच-नीच के वर्ग भेद या वर्ण भेद खड़े मत करो। (उत्तराध्ययन १२।३७)

२. सभी आत्मायें समान रूप से सुखाभिलाषि हैं, अतः दूसरे के हितों का हनन, शोषण या अपहरण करने का अधिकार किसी को नहीं है। (आचारांग १।२।३) सभी के साथ वैसा व्यवहार करो जैसा तुम उनसे स्वयं के प्रति चाहते हो (समणसुत्तं २४)।

३. संसार में प्राणियों के साथ मैत्री भाव रखो, किसी से भी घृणा एवं विद्वेष मत रखो (समणसुत्तं ८६)

४. गुणीजनों के प्रति आदर भाव और दुष्टजनों के प्रति उपेक्षाभाव रखो (सामायिक पाठ १)

५. संसार में जो दुःखी एवं पीड़ित जन हैं, उनके प्रति करुणा और वात्सल्य भाव रखो और अपनी स्थिति के अनुरूप उन्हें सेवा सहयोग प्रदान करो (वही १)

व्यवहार सूत्र :

उपासक दशांगसूत्र एवं रत्नकरण्ड श्रावकाचार में वर्णित श्रावक के १२ व्रतों एवं उनके अतिचारों से निम्न सामाजिक आचार-नियम फलित हैं—

१. किसी निर्दोष प्राणी को बन्दी मत बनाओ अर्थात् सामान्यजनों की स्वतन्त्रता में बाधक मत बनो।

२. किसी का वध या अंगभेद मत करो, किसी से भी मर्यादा से अधिक काम मत लो।

३. किसी की आजीविका में बाधक मत बनो।

४. पारस्परिक विश्वास को भंग मत करो। न तो किसी की अमानत हड़पो और न किसी के रहस्यों को प्रकट करो।

५. सामाजिक जीवन में गलत सलाह मत दो, अफवाह मत फैलाओ और दूसरों के चरित्र-हनन का प्रयास मत करो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. अपने स्वार्थ की सिद्धि के हेतु असत्य घोषणा मत करो।
७. न तो स्वयं चोरी करो, न चोर को सहयोग दो, चोरी का माल भी मत खरीदो।
८. व्यवसाय के क्षेत्र में नाप तौल में अप्रामाणिकता मत रखो और वस्तुओं में मिलावट मत करो।
९. राजकीय नियमों का उल्लंघन और राज्य के करों का अपवंचन मत करो।
१०. अपने यौन सम्बन्धों में अनैतिक आचरण मत करो। वैश्या-संसर्ग, वैश्यावृत्ति एवं वैश्यावत्ति के द्वारा धन अर्जन मत करो।
११. अपनी सम्पत्ति का परिसीमन करो और उसे लोकहितार्थ व्यय करो।
१२. अपने व्यवसाय के क्षेत्र को सीमित करो और वर्जित व्यवसाय मत करो।
१३. अपनी उपभोग सामग्री की मर्यादा करो और उसका अति संग्रह मत करो।
१४. वे सभी कार्य मत करो, जिनसे तुम्हारा कोई हित नहीं होता है किन्तु दूसरों का अहित सम्भव हो अर्थात् अनावश्यक गपशप, परनिन्दा, काम-कुचेष्टा, शस्त्र-संग्रह आदि मत करो।
१५. यथा सम्भव अतिथियों की, सन्तजनों की, पीड़ित एवं असहाय व्यक्तियों की सेवा करो। अन्न, वस्त्र, आवास, औषधि आदि के द्वारा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करो।

कषाय चतुष्टय के निषेध से निम्न आचार नियम फलित होते हैं—

१६. क्रोध मत करो, सबसे प्रेम-पूर्ण व्यवहार करो।
१७. अहंकार मत करो अपितु विनीत बनो, दूसरों का आदर करो।
१८. कपटपूर्ण व्यवहार मत करो वरन् व्यवहार में निश्छल एवं प्रामाणिक रहो।
१९. अविचारपूर्ण कार्य मत करो।
२०. लोभ या आसक्ति मत रखो।

उपर्युक्त और अन्य कितने ही आचार नियम हैं जो जैन नीति की सामाजिक सार्थकता को स्पष्ट करते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम आधुनिक सन्दर्भ में उनकी व्याख्या एवं समीक्षा करें तथा उन्हें युगानुकूल बनाकर प्रस्तुत करें।

आचार्य का शिष्य को उपदेश

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि । तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि । यान्यस्माकं सुचरितानि । तानि त्वयोपास्यानि ॥

देवकार्य और पितृकार्यों से प्रमाद नहीं करना चाहिये। तू मातृदेव (माता ही जिसका देव है ऐसा) हो, पितृदेव हो, आचार्यदेव हो और अतिथिदेव हो। जो अनिन्द्य कर्म हैं उन्हीं का सेवन करना चाहिये—दूसरों का नहीं। हमारे (हम गुरुजनों के) जो शुभ आचरण हैं तुझे उन्हीं की उपासना करनी चाहिये॥

—तैत्तिरीयोपनिषद्, १/११/२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org